

भक्तिवर्धिनी

चतुर्दशटीकाभिःसमलंकृता

- | | |
|------------------------|-------------------------------------|
| १. श्रीबालकृष्णानाम् | ८. श्रीवल्लभानाम् |
| २. श्रीगोकुलनाथानाम् | ९. श्रीजयगोपालभट्टानाम् |
| ३. श्रीरघुनाथानाम् | १०. श्रीलालुभट्टानाम् |
| ४. श्रीकल्याणरायानाम् | ११. केषाञ्चित् |
| ५. श्रीहरिरायानाम् | १२. श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णानाम् |
| ६. श्रीगोपेश्वरानाम् | १३. श्रीगिरिधरानाम् |
| ७. श्रीपुरुषोत्तमानाम् | १४. श्रीद्वारकेशानाम् |

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-गोस्वामि श्री १००८-
श्रीगोपीनाथ-महाराजश्रीत्येतैः — प्रकाशिता

प्रकाशक:

गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोपीनाथजी महाराज,
बडा मन्दिर, श्रीजीवनजी महाराज लेन,
भुलेश्वर, बम्बई-४०० ००२, भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति

राज संस्करण १००० प्रति

श्रीवल्लभाब्दा: ५०३.

ग्रन्थ-परिचय लेखक: गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक:

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेन्ट्रल चोपाटी बिल्डिंग, चोपाटी,
बम्बई-४०० ००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोपीनाथजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ---परिचय

चौरासी वैष्णवोंकी वातकि भावप्रकाशके अनुसार भक्तिवर्धिनी ग्रन्थ श्रीमहाप्रमुने सांचोरा पुरुषोत्तम जोशीके लिए लिखा था. एक किंवदन्तीके अनुसार इस ग्रन्थका प्रणयनकाल वि. सं. १५५२ माना जाता है तथा प्रणयनस्थल प्रयाग, परन्तु भावप्रकाशके अध्ययन करनेपर लगता है कि इस ग्रन्थकी रचना गुजरातके किसी गांवमें हुई होनी चाहिये :

“तब एक समय श्रीआचार्यजी गुजरात पधारे. सो पुरुषोत्तम जोशी मध्याह्नके समय एक तलावपर सन्ध्या करत हुते. तब श्रीआचार्यजी तलावपर पधारिके सन्ध्या-वन्दन करन लागे. सो पुरुषोत्तम जोशीकी ओर कृपा करिके दैवी जानि देखे. तब पुरुषोत्तम जोशी श्रीआचार्यजीके पास आई नमस्कार करि पूछ्यो— ‘महाराज ! यह कर्ममारग बड़ो के ज्ञानमारग बड़ो ?’ तब श्रीआचार्यजी कहे— ‘जाके मनमें दृढ़ जो मारग आवे, जामे जाको विश्वास होय, वाके भाये तो वह मारग बड़ो ; और बड़ो तो भक्तिमारग है जामें जीव कृतार्थ होई. और ज्ञानमारग कर्ममारग सो कृतार्थ कठिनतासों होई. सो काहूसों निर्वाह होय नाही. काहेते ? कष्ट साध्य है. सो या कालमें शरीरको कष्ट कयों न जाई. कोऊ शरीरको कष्ट सहे तो मन ठिकाने रहे. ताते भक्तिमारगमें जीव कृतार्थ होई और आश्रय नाही.

“तब पुरुषोत्तम जोशीने कही जो ‘महाराज ! भक्तिको स्वरूप कहा, कृपा करिके कहिये !’ तब श्रीआचार्यजी कहे— ‘भक्तिको स्वरूप वर्णन करिये तो पार आवे नाही परन्तु कछुक तोकों कहत हों’. तब ‘भक्तिवर्धिनी’ ग्रन्थ करि ग्यारह श्लोक पुरुषोत्तम जोशीकों सुनाये. सो यह उत्तम अधिकारी है, ताते सगरो बोध हो गयो.”

इस तरह भक्तिवर्धिनी पुरुषोत्तम जोशीके हृदयमें भक्तिके वर्धनार्थ लिखी गई थी, गुजरातमें ही कहीं पुरुषोत्तम जोशीके गांवमें. इसके उपदेशके बाद पुरुषोत्तम जोशी सपत्नीके श्रीमहाप्रभुके अनुयायी हुए ; और अव्यावृत्त होकर अपने घरमें कृष्ण-सेवामें तत्पर होगये— “सो दोऊ जन प्रीतिसों सेवा करन लागे. पाछे श्रीआचार्यजी द्वारिका पधारे. सो पुरुषोत्तम जोशीने बहोत दिन सेवा करी. भगवद्भावमें मगन रहते— अव्यावृत्त होई रहे. काहूके आगे अपने हृदयको भाव प्रकट न करते.”

कर्म-ज्ञान-भक्ति

भगवद्-गीताके तीसरे अध्यायमें अर्जुन भी भगवान्से ये ही प्रश्न कर बैठा था कि ज्ञानयोग यदि श्रेष्ठ है तो कर्मकी क्या आवश्यकता है; और कर्म यदि आवश्यक है तो फिर ज्ञानयोग किस अर्थमें श्रेष्ठ है. भगवान्ने वहाँ अर्जुनको समझाया है कि कर्मोंके अनारम्भ या त्यागके कारण ज्ञानयोग श्रेष्ठ नहीं बन जाता. क्योंकि फलासक्ति-रहित कर्म अर्थात् निष्काम-कर्म भी इस दृष्टिसे ज्ञानयोगसे मिलते लाभोंको देनेमें सक्षम है. कर्मके फलोंमें आसक्ति बनी रही तो ज्ञानमार्गीय साधकके नैष्कर्म्यका भी अपने-आपमें कोई मूल्य नहीं है. कर्मके फलोंके आकर्षणके रहते हुए कर्मका त्याग निरा पाखण्ड है.

भगवान् कहते हैं कि उन्हें, आत्माराम-आप्तकाम होनेपर भी, कर्मत्यागके बजाय लोकसंग्रहार्थ ही सही पर कर्म अधिक सुहाता है. कोई भी ज्ञानी स्वयम् परमात्मासे अधिक निष्काम या आप्तकाम हो नहीं सकता फिर ज्ञानयोगके नामपर कर्मत्यागकी क्या आवश्यकता है !

ज्ञानयोगी हो अथवा कर्मयोगी दोनोंको ही स्वधर्म-स्वकर्मका अनुष्ठान फलासक्तिके बिना करना चाहिये. क्योंकि परधर्मका भलीभांति अनुष्ठान भी स्वधर्मके विन-भली-भांति किये गये अनुष्ठानसे श्रेष्ठ नहीं है. अर्जुनने इस सन्दर्भमें एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न भगवान्के समक्ष उपस्थापित किया है. वह पूछता है कि स्वधर्म-पालनकी जब इतनी अधिक महत्ता है तब व्यर्थ लोग कभी स्वधर्मके त्यागद्वारा तो कभी परधर्मोंके अनुष्ठानद्वारा पापाचरण क्यों करते हैं ?

भगवान्ने इस प्रश्नका विलक्षण उत्तर दिया है कि स्वधर्मत्याग अथवा परधर्माचरण के द्वारा मनुष्य पापोंको बटोरता रहता है, अपने काम और क्रोध के वशीभूत होकर ज्ञानियोंकी ज्ञानाग्नि भी बहुधा कामके धुँएमें घिर जाती है. काम ही ज्ञानियोंका चिरशत्रु होता है.

भगवान्की बात बड़ी अटपटी लगती है कि क्यों केवल ज्ञानमार्गीय साधक ही कामनाओंका शिकार बनता है, कर्ममार्गीय या भक्तिमार्गीय साधक क्यों नहीं ? कामनाओंका आकर्षण तो सभी मार्गोंके साधकोंमें प्रारम्भमें तो रहता ही है या कमसे कम रह सकता है ! परन्तु थोड़ा ध्यानसे देखनेपर पता चलेगा कि हमारी ममता और अहन्ता का ही अदम्य विस्फोट क्रमशः काम और क्रोधके रूपमें होता है. अतएव भगवान् कहते हैं— “काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्.” हमारी अहन्ता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर क्रोधके रोगका रूप धारण कर लेती है. इसी तरह हमारी ममता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर कामके रोगका रूप धारण कर लेती है.

इन काम तथा क्रोधके रूपोंमें हमारी ममता तथा अहन्ता के राजस विस्फोटसे ध्वस्त होती साधकोंकी साधनाकी सुरक्षाके उपायरूप अनेक मार्ग प्रवृत्त हुए हैं.

चार मार्ग

(१) बुद्धने आत्मचेतनाको काम-क्रोधके आवेगोंसे बचानेके लिए इनकी बीजभूत अहन्ता और ममता को ही तोड़ देनेका उपाय सुझाया था. एतदर्थ अनात्मवादपर आधारित ‘नाहम्’ की भावना तथा विज्ञानवादपर आधारित ‘न मम’ की भावना को जगानेपर भार दिया गया. मानों हमारी चेतनामें अहन्ता और ममता की ग्रन्थियोंमें यदि क्रोध और कामके व्रण हो गये हों तो उन्हें हटानेके बजाय इन ग्रन्थियोंकी ही शल्यचिकित्सा कर दी गई. वैदिक शास्त्रोंको यह शल्यकर्म सभी स्थितियोंमें मान्य नहीं था. अतः बुद्धसे पूर्व ही कर्मयोग ज्ञानयोग एवम् भक्तियोग की प्रणालियोंमें अन्य अघोर एवम् अक्लिष्ट चिकित्सा इनकी सोची गई.

(२) कर्मयोगकी प्रणालीमें अहन्ताको तोड़नेकी परवाह किये बिना ममताको विभिन्न देवताओंसे जोड़नेकी चिकित्सा-प्रणाली अपनायी गई है— “अग्नये स्वाहा अग्नये इदं न मम— सूर्याय स्वाहा सूर्याय इदं न मम” इत्यादि. “वित्तं च मे पुत्रं च मे पशुश्च मे” की ममतामयी सकाम-कर्म-वृत्ति वाले साधकोंकी ममताको— “देवतायै इदं न मम” की प्रणालीद्वारा निष्काम-कर्मकी ओर कर्मयोग आगे बढ़ाना चाहता है. स्वयम्के उपभोगसे पूर्व देवताओंके यजनकी आवश्यकता है. अतएव कर्मयोगके निरूपणमें गीता हमें समझाती है :

“कर्म किये बिना कोई रह नहीं पायेगा, अपनी प्रकृतिके अनुरूप विवश होकर कुछ न कुछ कर्म तो सभीको करने ही पड़ेंगे. ऐसी स्थितिमें कर्मेन्द्रियोंको संयत करनेके पाषण्डमें विमूढ़ साधक अपने असंयत मनको इन्द्रियाथकि चिन्तनमें डुबा देते हैं. जबकि सच्ची विशिष्टता तो मनसे इन्द्रियोंको संयत करके कर्मेन्द्रियोंसे आसक्ति-रहित कर्मयोगको करते रहनेमें है ! अतएव नियत कर्मोंको करते रहना उत्तम है, उन्हें त्याग देनेके बजाय. सर्वथा कर्मत्याग करनेपर तो शरीरयात्रा भी नहीं निभ पायगी. और फिर इस लोकमें वे ही कर्म बन्धनरूप माने गये हैं, जिनका अनुष्ठान यज्ञकर्मके रूपमें नहीं होता. अतः यज्ञार्थ किया गया कर्म तो असंगभावसे करते ही रहना चाहिये. प्रजापतिने भी प्रजाकी सृष्टि यज्ञके साथ ही की है. अतः यज्ञ ही हमारी सारी कामनाओंको भलीभांति पूर्ण करता है. हमें यज्ञके द्वारा देवताओंकी देनेकी वस्तु उन्हें देनी चाहिये और यज्ञभावित देवगण जो हमें मिलना चाहिये वह हमें देंगे. इसी आदान-प्रदानमें हमारा परमश्रेय रहा हुआ है. जो देवताओंने हमें दिया है उसमें से जो उन्हें देने लायक है उसे दिये बिना जब हम अपने उपभोगमें लेते हैं तो हम चोर बन जाते हैं. अतएव यज्ञके बाद बची हुई वस्तुओंके उपभोगकी जीवनप्रणालीमें पापस्पर्श नहीं होता है. फिर भी जो केवल अपने लिए पकाते हैं और खाते हैं, वे अन्नका नहीं प्रत्युत पापका ही भक्षण करते हैं.”

इस विस्तृत उद्धरणके अध्ययनमें स्पष्ट हो जाता है कि कर्मयोग हमारी अहन्ता-

की परवाह अधिक नहीं करना चाहता किन्तु ममताको मार्गदर्शन देना चाहता है। ममतामें रचे-पचे मनुष्य अपने उपभोगसे पूर्व यदि थोड़ी सी धीरज धरके देवताओंको लिए "इदं न मम" कहना सीख पायें तो निष्कामताके मार्गपर आगे बढ़ा जा सकेगा। यही निष्काम-कर्म अन्तमें आत्मसुख या शाश्वत स्वर्गका सुख प्रदान करेगा। परन्तु अहन्ताकी उपेक्षाके कारण इस कर्ममार्गमें प्रारम्भिक साधनावस्थामें अहन्ता और राजसगुण के साहचर्यसे पनपे क्रोधकी सम्भावना पदे-पदे रहती है। कर्मयोग ममताको ही स्वस्थ बनता है।

(३) ज्ञानमार्ग अतः अहन्ताकी चिकित्सा— उसे स्वस्थ बनानेका प्रयास है। कर्मयोगमें जैसे ममताको देवताओंसे जोड़ा गया था इसी तरह ज्ञानयोगमें हमारी अहन्ताको ब्रह्मके साथ जोड़नेका प्रयास करना पड़ता है—“योहमस्मि ब्रह्माहमस्मि. अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि. अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा” अर्थ: मैं जो कुछ हूँ—मैं ब्रह्म ही हूँ. हां, मैं हूँ— मैं ब्रह्म हूँ. मैं ही मैं मेरा होम (ब्रह्ममें) करता हूँ.

कर्मयोग जैसे प्रारम्भमें—“पुत्रं च मे वित्तं च मे” की कामनाओंसे घिरे सकाम-कर्मकर्ताको निष्काम-कर्मकी ऊंचाईपर उठानेके लिए “इदं न मम” में प्रशिक्षित करता है. वहां यज्ञाग्निमें अपनी ममताकी आहुति देनी पड़ती है. वैसे ही ज्ञानयोग ब्रह्माग्निमें अपनी अहन्ताकी आहुति देना सिखलाता है. ज्ञानयोग हमारे अहंकारकी चिकित्सा है. ध्यान रहे कि ‘अहम्’ की आहुति ब्रह्माग्निमें देनी है— अपने अहंकारकी धधकती ज्वालाओंमें ब्रह्मकी आहुति ज्ञानयोग नहीं है !

वाक्य उद्देश्य-विधेयभाव-घटित होता है. जैसे “गाय प्राणी है” वाक्यमें ‘गाय’ उद्देश्य है और ‘प्राणी’ विधेय है. इसी तरह “अहं ब्रह्मास्मि” में ‘अहम्’ उद्देश्य है और ‘ब्रह्म’ विधेय है. अतएव अहमास्पद जीवात्माको ब्रह्म मानना वास्तविक ब्रह्मबोध है; तथा व्यापक अंशी परमात्माके साथ अंशरूप जीवात्माकी अहन्ताको सच्चे परिप्रेक्ष्यमें देखना है. ब्रह्मको उद्देश्य मानकर अहंकारको विधेय बनाना सभी प्राणिओंको गाय माननेके जैसी त्रुटी है. ब्रह्म तो त्वंकारास्पद भी है— “तत्त्वमसि”में और इदंकारास्पद भी है— “सर्वं खलु इदं ब्रह्म” में. प्राणी तो गाय हाथी और घोड़ा आदि अनेक प्रकारके होते हैं. अतः सभी प्राणिओंको गाय माननेकी जैसी त्रुटी ब्रह्मको अहमास्पद माननेवाले कर बैठते हैं. अंशीको अहम् नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह त्वम् भी है और इदम् भी. अहम्को किन्तु अंश होनेके कारण अंशी ब्रह्म कहा जा सकता है. वापके जैसा बेटेका बहरा होता है बेटेके जैसा वापका नहीं !

अतएव श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि लहरोंको ‘समुद्रकी लहरें’ कहना चाहिये— समुद्रको ‘लहरोंवाला समुद्र’ नहीं (सामुद्रो हि तरंगः ववचन समुद्रस्तारंग इति). किनारोंपर पहुंच कर लहरें अपनी आहुति समुद्रमें दे देती हैं पर भला कभी समुद्रकी आहुति किसी लहरमें दी जा सकती है क्या ?

ज्ञानमार्गी अहन्ताकी चिकित्सापर भार देता है— ब्रह्मके साथ अपनी अहन्ताको जोड़कर उसे स्वस्थ बनाना चाहता है. परन्तु इस प्रणालीमें ममताकी उपेक्षा हो जाती है और उसी ममताके विकृत होनेपर ज्ञानीके ज्ञानमें कामके व्रण प्रकट हो जाते हैं ! ममताको छोड़कर केवल अहन्ताको ब्रह्मके साथ जोड़नेका प्रयास ज्ञानमार्ग है. सफल होनेपर ब्रह्मानन्दकी उपलब्धि होती है और विफल होनेपर “अहं ब्रह्मास्मि” का उद्देश्य विधेयमें बदल जाता है. प्रायः ज्ञानमार्गीय विविदिषुके “अहं ब्रह्मास्मि” के जपमें ब्रह्मके बजाय अहम्पर भार आजाता है और इस महावाक्यका अर्थ बदल जाता है !

कभी विफल ज्ञानमार्गीय साधककी उपेक्षित ममता ज्ञानमार्गपर दौड़ते हुए साधकको रजोगुणकी गोघूलीकी वेलामें शिष्येवणा जैसी कामनाओंका रूपधारण कर मोहपाशमें बांध लेती है. अतएव भगवान् कहते हैं— “सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ?”

ये दोनों ही मार्ग, कर्मयोग और ज्ञानयोग के, यात्राकी सफलतापर मुक्ति तक पहुंचानेवाले मार्ग हैं, पर अहन्ता और ममता में से एक ही किसीकी स्वस्थ करनेके ये अपूर्ण प्रयास होनेसे हमारे काम और क्रोध के रोगोंकी पूर्ण चिकित्सा नहीं करते. भक्तियोग ही हमारी अहन्ता-ममताको पूर्णतया स्वस्थ रखनेकी एकमात्र चिकित्साप्रणाली है— अकठोर मृदु पूर्ण एवम् भयरहित !

(४) ‘भक्ति’ शब्द भज + क्तिन् को जोड़ने पर बनता है. ‘भज’ धातुकी प्रकृतिका अर्थ है: सेवा. ‘क्तिन्’ प्रत्ययका अर्थ होता है: प्रेम. अतः ‘भक्ति’ शब्दका कुल अर्थ होता है: प्रेमके साथ की जानेवाली सेवा.

यह भक्ति हमारी अहन्ता-ममताकी पूर्ण चिकित्सा है. शरणागत पुष्टिजीवको भगवत्सेवामें लगाकर यह उसकी अहन्ताको भगवान्के साथ जोड़ देती है— ‘सोहम्’ की प्रक्रियासे नहीं किन्तु ‘दासोहम्’ की प्रक्रियासे. सेवा सचाईसे हम उसीकी कर सकते हैं जिसके सामने हमारा अहंकार झुक जाये. पुष्टिप्रभु ब्रजाधिप श्रीकृष्णके सम्मुख अपने अहंकारको “श्रीकृष्णः शरणं मम” कह कर अथवा “दासोहं कृष्णस्तव” कह कर झुका देना पुष्टिभक्त या पुष्टिभक्ति की प्रकृतिमें निहित अर्थ है. अहंकारके झुकते ही तनको भी झुकना पड़ेगा. अतएव सिद्धान्तमुक्तावलीमें तनुवित्तजा सेवा तथा सिद्धान्तरहस्यमें सर्वसमर्पण की बात समझा कर चतुःश्लोकीमें ब्रजाधिपके भजनको ही स्वधर्म माना गया है.

संस्कृत भाषाका एक नियम है कि प्रत्येक शब्दके घटक प्रकृति और प्रत्यय अपने-अपने अर्थका बोध एकसाथ ही पैदा करते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं. फिर भी प्रत्ययके अर्थकी कुछ प्रधानता होती ही है. ‘क्तिन्’ प्रत्ययका अर्थ प्रेम भी ‘भक्ति’ शब्द के दूसरे घटक ‘भज’ धातुके अर्थ सेवाकी तुलनामें कुछ प्रधानता लिए हुए है. प्रेम होता है किसीके प्रति मनके झुकनेपर. मन जहां झुका कि ममता भी उस ओर मुड़ने लगेगी.

हमारी ममताके श्रीकृष्णके साथ जुड़नेकी बात चित्तकी कृष्णप्रवणताके रूपमें सिद्धान्त-मुक्तावलीमें समझायी गई है. चतुःश्लोकीमें श्रीकृष्णके प्रति अपनी ममताको मोड़नेकी क्रियाको ही पुष्टिमार्गीय काम कहा गया है. वही काम— वही कृष्णदर्शन-कामना 'भक्ति' शब्दमें 'क्तिन्' प्रत्ययका अर्थ है.

चतुःश्लोकीमें भजन और स्मरण के निरन्तर चक्रकी तरह चल पड़नेकी क्रियाको मोक्ष माना गया है (स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मतिः). अपरोक्षमें भजन या कायिकी सेवा हमारी अहन्ताके कृष्णसे जुड़नेकी निशानी है. परोक्षमें स्मरण या हमारे चित्तकी कृष्ण-तन्मयता हमारी ममताके कृष्णसे जुड़नेकी निशानी है. पुष्टिभक्त न तो अपनी अहन्ता या ममता को देह या विषयों में मुक्त छोड़ता है; और न उन्हें तोड़ता ही है. क्योंकि तोड़ना आवश्यक नहीं है. पुष्टिभक्त अपनी अहन्ता एवम् ममता को ब्रजाधिप श्रीकृष्णके साथ जोड़ता है. जिस दिन—जिस क्षण ये दोनों भलीभांति श्रीकृष्णके साथ जुड़ जाती हैं, उसी दिन पुष्टिजीव मुक्त हो जाता है. इससे अधिक और कोई मतलब मुक्तिका पुष्टिजीवके लिए नहीं होता.

हमारी अस्वस्थ अहन्ता-ममताकी क्लेशरहित, सम्पूर्ण एवम् शुभ चिकित्सा भक्ति है. अतएव श्रीमहाप्रभुने पुरुषोत्तम जोशीको समझाया था कि "ज्ञानमार्ग अहं कर्म-मार्ग सों कृतार्थ कठिनतासों होई. ताते भक्तिमार्गमें जीव कृतार्थ होई और आश्रय नाही..."

जब भक्ति ही हमारे संसार-रोगकी पूर्ण चिकित्सा है तो भक्तिरसायनके अनुपानको ही क्यों न बढ़ाया जाये ! वस्तुतः तो भक्तिको औषधी मानना भी भक्तिकी पूर्ण महत्ताका विवरण नहीं है. क्योंकि भक्ति पुष्टिजीवके लिए औषधीसे कहीं अधिक स्वयम् स्वास्थ्य ही है. परमात्माके प्रति जीवात्माकी भक्ति न होना जीवात्माके अस्वास्थ्यका लक्षण है. पुष्टिप्रभु ब्रजाधिप श्रीकृष्णके प्रति पुष्टिजीवका पुष्टिभक्तिके भावसे रहित होना भी उसकी अस्वस्थताका लक्षण है. गीताके छठे अध्यायकी समाप्तिपर अतएव भगवान् भी कहते हैं— "मुझे कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय तपस्वी साधकोंमें जो योगी हैं वे अधिक मान्य लगते हैं. योगियों में भी श्रद्धापूर्वक जो अपनी अन्तरात्माको मेरे साथ जोड़ करके मेरा भजन करते हैं वे मुझे सभीमें युक्ततम लगते हैं."

इस जगतमें आहार-विहारकी जिन अनियमितताओंके कारण हम अपनी अहन्ता-ममताको अस्वस्थ बना लेते हैं, उनसे बचनेके लिए श्रीमहाप्रभुका स्वास्थ्यवर्धक उपदेश 'भक्तिवर्धिनी'को सुनना समझना और हृदयमें धारण करना अत्यावश्यक है : भगवान्के अनुग्रहके कल्पतरुसे लिपट कर ऊपर उठनेवाली भक्ति-कल्पलताकी वृद्धिके उपायोंको जानना अतः आवश्यक है.

भक्ति उस जीवात्मामें प्रकट होती है जिसका भगवान् भक्तिके लिए वरण करते हैं. अपनी भक्तिके हेतु परमात्माद्वारा किया गया जीवात्माका वरण जीवात्मामें

बीजभावके रूपमें सर्वदा विद्यमान रहता है. सत्संग गुरुकृपा या शास्त्रतात्पर्य-निर्णय के अनुकूल वातावरणमें कभी वह अंकुरित हो पाता है और कभी नहीं. श्रीप्रभुवरण कहते हैं कि स्वयम् परमात्मा इस एकान्तभक्ति या ब्रजभक्ति के बीजको बोता है— सत्संग एवम् गुरुकृपा के जलसे उसे सींचता है— अपने अनुग्रह-कल्पतरुका सहारा देकर उसे ऊपर उठाता है— उसपर उगनेवाले पुष्प-फलोंकी रक्षा भी एक सावधान मालीकी तरह वह स्वयम् ही करता है— तब इस भक्ति-कल्पलताका नष्ट होना या मुरझा जाना, उसे कैसे पसन्द आयेगा ? अतः पुष्टिभक्तिका बीजभाव अनश्वर बीज-भाव है. जन्म-जन्मान्तों तक यह नष्ट नहीं होता. एक-एक जन्म ऋतुचक्रकी तरह आते और जाते रहते हैं— किसी ऋतुमें किसी लतापर फूल खिलते हैं और किसी ऋतुमें नहीं. इसी तरह भक्तिका बीजभाव भी किसी जन्ममें प्रेमके रूपमें अंकुरित हो पाता है और किसी जन्ममें नहीं.

भक्तिकी यह कल्पलता बढ़कर इतनी सघन हो जाये— पुष्टिके कल्पतरुके इर्द-गिर्द इतनी फैल जाये कि दोनोंके पल्लवोंको पृथक् करना कठिन हो जाये— पुष्टिकल्प-तरु और भक्तिकल्पलता के पल्लव परस्पर मिलकर पुष्टिभक्तिके रूपमें दिखलाई देने लग जायें— ऐसा उपाय श्रीमहाप्रभु हमें दिखलाना चाहते हैं लता जब वृक्षपर भलीभांति दृढ़तासे लिपट जाती है— फैल जाती है— तब उसके नष्ट होने या मुरझा जाने का भय कम हो जाता है. इसे ही 'बीजभाव की दृढ़ता' कहा गया है.

दृढ़ बीजभाव तथा अदृढ़ बीजभाव वाले जीवोंके लिए भक्तिकी फलारिभका वृद्धिके उपाय :

अपनी प्रेमसेवात्मिका भक्तिके हेतु परमात्माद्वारा समारोपित वरणका बीजभाव जिन जीवात्मामें दृढ़ हो जाता है वे तो निःशंक श्रवण-कीर्तनकी प्रणालीसे भी भगवान्की मानसी सेवामें सर्वदा मग्न रह सकते हैं. अतः ऐसे भक्त गृहत्याग भी कर सकते हैं. परन्तु जिन भक्तोंका बीजभाव ही दृढ़ न हो उन्हें गृहत्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत अपने घरमें रहते हुए ही भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा में अपने-आपको तत्पर बनाना चाहिये. तभी बीजभाव दृढ़ होगा.

भक्तिके तीन भेद होते हैं :

- १) भगवत्स्वरूपका बाह्य भजन
- २) भगवत्स्वरूपका आन्तर भजन
- ३) भगवन्नामात्मक भगवत्कथा श्रवण-चिन्तन-कीर्तन

बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपे भेदद्वयं मतम् ।

नाम्नि चैकं ततस्त्रेधा भक्तिमार्गो निरूपितः ॥

जिसका बीजभाव दृढ़ हो गया हो अर्थात् पुष्टिभक्ति भगवत्प्रेमके रूपमें अंकुरित, भगवदासक्तिके रूपमें पल्लवित तथा भगवद्-व्यसनके रूपमें फलित होने लग गई हो तो

ऐसे भक्तको भगवद्-व्यसनके स्वभाववश ही भगवान्के विरहकी तीव्र अनुभूतिमें सिद्धा-
न्तमुक्तावलीमें वर्णित मानसी सेवा अर्थात् भगवत्स्वरूपका आन्तर भजन सिद्ध हो जाता
है. और एक कदम आगे बढ़नेपर सर्वात्मभावके सिद्ध होनेपर आसक्तिभ्रम-न्यायसे
सभी इन्द्रियोंका भगवान्में विनियोग भी सिद्ध हो जाता है. ऐसे भक्तोंके लिए सर्वत्र
भगवद्-भाव प्रकट हो जाता है. घर और बाहर का भेद लुप्त हो जाता है— वे घरमें बैठे
हुए हों या बाहर, उनके मन और उनकी सभी इन्द्रियों से निरन्तर भगवान्की अनुभूति
चलती रहती है. फलस्वरूप आसकरणदासजी (दृष्टव्य २५२ वार्ता) की तरह उनका
घरमें रहना अनिवार्य नहीं रह जाता है. वे गृहत्याग कर सकते हैं— भगवल्लीलाओंका
श्रवण, भगवान्के स्वरूप, गुण एवम् लीलाओंकी भावना तथा उनके कीर्तन की मस्तोमें;
या कभी भगवद्-विरहके तीव्रतापमें ऐसे भक्त कब घरको छोड़कर बाहर निकल जाते हैं
यह उन्हें स्वयम् भी मालूम नहीं पड़ता ! (विरहानुभवार्थं तु परिव्यागः प्रशस्यते. सन्यास-
निर्णय).

सर्वनिर्णय— निबन्धमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि केवल श्रीकृष्णको ही अपना स्वामी
मानकर—आन्तर और बाह्य रूपमें सभी बातोंका त्याग कर— श्रीकृष्णके विभूतिरूप
सभी देवताओंका सन्मान करते हुए— देहपातपर्यन्त केवल श्रीकृष्णमें ही अपने मनको
जो एकाग्र कर पाते हैं— उनकी वाणीका और कायाका श्रीकृष्णमें विनियोग हो पाये या
नहीं— उनके मनकी एकाग्रता स्नेहमयी बन पाये या नहीं— उन्हें श्रीकृष्णमें सायुज्यका
लाभ अवश्य ही मिल जाता है. पर भगवत्प्रेमके प्रबल प्रवाहके कारण दारा-आगार-पुत्र
आप्त-प्राण-वित्त-आदिमें जिनकी ममताकी दीवार ढह जाती है और जो स्वयम् भी
उस प्रबल प्रवाहके वेगसे घरके बाहर फिंक जाते हैं— ऐसे भक्त व्यसनदशाके परम-
भावोंकी भंवरोंमें घिर जानेसे पुनःपुनः डूबते और उभरते रहते हैं ! करोड़ों भक्तोंमें
कभी-कभी एकद ही कोई ऐसा कृष्णव्यसनी बन पाता है ! !

बीजभावकी ऐसी दृढ़ताके अभावमें गृहत्याग श्रेयस्कर नहीं होता. अतः पहले
बीजभावके दृढ़ होने तक धीरज रखनी चाहिये.

त्याग और वैराग्य भगवदनुरागकी तीव्रताके कारण प्रकट होते हों तो उन्हें स्वस्थ
एवम् सरस मानना चाहिये. अन्यथा संसारमें केवल दोषदृष्टिके कारण जो वैराग्य
पनपता है वह नीरस एवम् शुष्क, अतएव अस्वस्थ भी होता है. ऐसे अस्वस्थ वैराग्य-
वश ध्यर्थ ही किसी भी वस्तुके त्याग कर देनेके वजाय उसे भगवान्को समर्पित कर
देना चाहिये. हमारी अहन्ता और ममता के विषयोंको त्यागनेके वजाय उन्हें श्रीकृष्णको
समर्पित कर श्रीकृष्णकी सेवामें उपयोग लानेवालेका बीजभाव दृढ़ हो सकता है. अतएव
श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि अव्यावृत्त होकर स्वगृहमें स्वधर्म-भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा-
मय जीवनयापन करनेवालेका बीजभाव दृढ़ होता है : “बीजदाढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा
स्वधर्मतः अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः”

स्वगृहमें स्वधर्म-भगवत्सेवाके विषयमें शास्त्रार्थ प्रकरणमें एक विलक्षण बात श्रीमहा-
प्रभुने समझायी है कि ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिके लिए मोक्षकी चाहनासे भक्ति करनेवालोंको
यह समझना चाहिये कि साध्य मोक्षके वजाय साधन भक्ति अधिक श्रेष्ठ है. जो जीव
मुक्त होते हैं वे देहेन्द्रियादिके संघातको छोड़कर ही मुक्त हो पाते हैं — उनकी केवल
आत्मा ही परमात्मामें लीन हो पाती है. जबकि भक्तोंके तो देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण
गृह परिवार आदि सभी कुछ उनके घरमें विराजते प्रभुकी सेवामें काम आते हैं. भक्तका
तो संसार भी ब्रह्मात्मक हो जाता है. फलतः जीवन्मुक्तके वजाय भक्तके लिए तो भग-
वत्कृपाके साथ गार्हस्थ्य ही श्रेष्ठतर होता है. अतः बीजभाव दृढ़ करनेके लिए यह
आवश्यक है कि घरमें स्वधर्माचरणको निभाते हुए अव्यावृत्त होकर भगवद्-भजन
करना चाहिये.

घरमें रहना है तो स्वधर्माचरणका त्याग सम्भव नहीं, पर स्वधर्मकी व्याख्या भी
सरल नहीं है. ‘स्वधर्म’ का प्रथम अर्थ होता है : स्वयम्के वर्ण तथा आश्रम के अनुरूप
यथाशक्ति शास्त्रविहित आचरण करना. शक्ति रहनेपर स्वधर्माचरणमें संकोच नहीं
करना चाहिये. क्योंकि जब तक यह देह है और इस देहके साथ हमारी अहन्ता-ममता
जुड़ी हुई है, तब तक वर्णाश्रमधर्म ही स्वधर्म है— भगवद्धर्म भी विधर्म या परधर्म
की तरह हो जाता है. जब देहाभिमान शिथिल होने लग जाये तभी भगवद्दास्य या
भगवत्सेवा आत्मदृष्टिसे स्वधर्म बन जाती है. तब वर्णाश्रमधर्म भी परधर्म बन जाता
है (सुबो. ३-२८-२), अतः इस देहाभिमान और आत्माभिमान के अति कोमल और
जटिल विवेकके साथ वर्णाश्रम-धर्मका निर्वाह करते हुए कृष्णभजनमें तत्पर रहना
चाहिये. कृष्णभक्तिमें जैसा कि हम देख चुके हैं अहन्ताको स्वस्थ करनेका उपाय कायिकी
सेवा ‘भज’ धातुका अर्थ है; और ममताको स्वस्थ करनेका उपाय चित्तको कृष्णप्रेम-
प्रवण बनना है. तदनुरूप अपरोक्षमें पूजा कायाको भजनमें लगानेकी प्रक्रिया है. और
परोक्षमें श्रवण-चिन्तन-कीर्तन मनको भजनमें लगानेकी प्रक्रिया है.

स्नेहकी दृढ़ताके बिना कायासे प्रेमसेवा न भी निभ पाये पर माहात्म्यज्ञानको
निभाते हुए पूजा तो निभाई जा सकती है. पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थमें इसी पूजाको—
“प्रवाहेण क्रियारताः” कह कर व्यवत किया गया है. सर्वनिर्णयमें २२७ वीं कारिकासे
लेकर २४६ वीं कारिका तक भजनके इसी क्रियापक्षका निरूपण किया गया है. यहीं—
“एतत्सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्” कहकर गार्हस्थ्यमें इसकी आवश्यकता दिख-
लायी है. यहीं २४० वीं कारिकामें श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि श्रवण-कीर्तन आदि द्वारा
जब हरि हृदयमें निविष्ट हो जाते हैं तभी पूजाका निर्वाह निर्व्यग्रतया सम्भव हो पाता
है. अतएव पूजाको यदि केवल क्रियारूप ही न रहने देना हो तो, श्रीमद्भागवतमें
वर्णित भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओंके श्रवण-भावन-कीर्तनकी प्रणालीमें, उसे
प्रेममय बनाना होगा (प्रेम्णोन्यत्साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत् श्रीभागवतमेवात्र परं

तस्य हि साधनम्. सर्वनिर्णय) अन्यथा प्रेमरहित क्रियासे बहुधा व्यग्रता उत्पन्न होती ही है. श्रीमहाप्रभु अतएव कहते हैं—“सप्रेम इत्यनुद्वेगार्थम्” (सर्वनिर्णय २३०). भगवान्की पूजा करते समय अनन्य भाव नहीं जग पाया तो हम अव्यावृत्त होकर भजन नहीं कर पायेंगे—भक्तिके बजाय व्यर्थ ही मानसिक व्यग्रता बढा लेंगे.

भक्तिमार्गीय जीव अव्यावृत्त भी हो सकते हैं और व्यावृत्त भी. अतः दोनों तरहके जीवोंमें भक्तिके बीजभाव की दृढताके उपाय भी श्रीमहाप्रभुने दिखलाये हैं.

अव्यावृत्त और व्यावृत्त अधिकारियोंकी भक्तिके बीजभावोंको दृढ करनेके उपाय :

सभी इन्द्रियों और मन की अहमहमिकता ('पहले मैं—पहले मैं' की उतावल) से भगवान्के कार्योंमें जुट जानेकी अर्थात् सेवामें तत्पर होनेकी वृत्ति हमारी अहन्ताका भगवान्में विनियोग है. एतदर्थ अनन्यभाव आवश्यक होता है. 'भाव' का अर्थ होता है: हमारे अन्तःकरणमें निहित रुचि या अभिप्राय. वह यदि केवल भगवान्के ही बारेमें हो तो उसे 'अनन्यभाव' कहते हैं. अन्यथा (१) किन्ही अन्य देवताओंके बारेमें (२) अन्य लौकिक वस्तु या व्यक्ति के बारेमें, अथवा (३) पुष्टिमार्गीय फलसे भिन्न किसी फलके बारेमें, हमारे हृदयकी रुचि या भावना के प्रबल होनेपर हमारी कृष्णभक्ति अनन्य-भावात्मिका नहीं बन पायेगी.

'अनन्य भाव'वाले भक्त ही अव्यावृत्त हो पाते हैं. जिनकी भक्ति अनन्यभावात्मिका नहीं हो पाती वे अव्यावृत्त नहीं हो पायेंगे. अन्यान्य भाव हमारे देह और अन्तःकरण को व्यावृत्त बनाये रखेंगे — वे अपनी पूतिकी कामनाके भावोंका हमारे भीतर पैदा करके हमें व्यावृत्त बना देंगे — हमसे अव्यावृत्तिमय भजन सम्भव न हो पायेगा. ऐसी स्थितिमें पुष्टिमार्गीयपर चलनेके बुद्धिगत निर्णयके बावजूद भी हृदय इन पूर्वोक्त अनन्यभावोंकी पूतिके प्रयासमें यहां-वहां भटकता रहेगा — व्यावृत्त रहेगा. ऐसी स्थितिमें श्रीकृष्णकी पूजा या कायिकी सेवा करते रहनेपर भी वह सेवाफलमें दिखलायी गयी — भोग, उद्वेग और प्रतिबन्धों से रहित सेवा नहीं हो पायेगी. फलस्वरूप चित्तमें वह व्यग्रता बढानेका ही कारण बनेगी.

श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि पूर्वोक्त देवतान्तर, पदार्थान्तर, मार्गान्तर या फलान्तर के कारण जिनके देह और अन्तःकरण बाह्य और आन्तर रूपमें व्यावृत्त न हों ऐसे जीवोंको भगवत्पूजा और भगवत्कथा दोनोंमें ही तत्पर रहना चाहिये. पर जिनके देह या अन्तःकरण किसी न किसी तरह व्यावृत्त हों उन्हें कृष्णसेवाका अनुष्ठान सहसा प्रारम्भ नहीं करना चाहिये. प्रारम्भमें केवल भगवत्कथाके श्रवण चिन्तन एवम् कीर्तन की प्रणालीसे चित्तको अनन्यभाव-युक्त अव्यावृत्त बनाना चाहिये (...भावान्तरसहितो वा. स हि देवतान्तरविषयः पदार्थान्तरविषयः मार्गान्तरविषयो वा. तत्सहभावोत्र निषिध्यते फलभावश्च. सुबो. ३-२५-२२). इस सुबोधिनीकी भागवतकारिकामें

भक्तिका स्वरूप यों दिखलाया गया है :

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥
मदाश्रयाः कथामृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।

.....
त एते साधवः साधिव ! सर्वसंगविवर्जिताः ।

संगस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः संगदोषहरा हि ते ॥

(भाग. २।२५।२२-२४)

व्याख्या : जो भगवान्में अनन्यभाव रखते हुए भगवान्की दृढ भक्ति करते हैं, जिन्होंने आलस्यवश नहीं किन्तु भगवदर्थ वेदादिशास्त्रोक्त अलौकिक कर्मोंका तथा लौकिक स्वजन-बान्धवोंका त्याग कर दिया हो, ऐसे भक्तोंकी संगति करनी चाहिये. निरन्तर भगवत्सेवा अथवा भगवत्स्मरण में सभी कर्म तथा सम्बन्ध बाधक बनते हैं—अनन्यभावमें कुछ न कुछ बाधा पहुंचाते ही हैं. अतः इनसे व्यावृत्त हुए बिना पूजा-श्रवणादिमें तत्पर होना चाहिये. सभी अधिकारियोंमें किन्तु ऐसी स्वरूपासक्ति सम्भव नहीं है. फलतः कथासक्ति— भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओं के श्रवण और कथन में आसक्ति— जिनकी दृढ हो एसोंका सत्संग करना चाहिये. ऐसे भगवदीयोंके सत्संगसे— उनके मुखसे कथाश्रवण करनेसे तथा स्वयम् भी चिन्तन-कीर्तन करनेसे लौकिक विषयोंसे ममता हटकर भगवान्से जुड़ पायेगी.

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि जो व्यावृत्त हैं उन्हें स्वरूपभजनके बजाय नाम-भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. इसी श्रवण-चिन्तन-कीर्तनकी प्रणालीद्वारा उनका बीज-भाव प्रेम-आसक्ति-व्यसनकी अवस्थाओंमें विकसित हो पायेगा.

बीजभावको दृढ हुआ तभी समझना चाहिये जब हमारे देह और अन्तःकरण की व्यावृत्ति देवतान्तर पदार्थान्तर मार्गान्तर एवम् फलान्तर के बारेमें न्यूनसे न्यूनतर होती हुई सर्वथा समाप्त हो जाये. घरमें भगवत्सेवा जिनसे नहीं निभ पाती परन्तु भगवत्कथाके श्रवण-भावन-कीर्तनकी प्रणालीसे जो अपनी भक्तिके बीजभावको दृढ करनेके लिए आगे बढ़ते हैं, उन्हें इस यात्रामें ये क्रोशस्तम्भ (mile'stone) अपने भक्तिके मार्गपर मिलेंगे :

(क) जब बीजभाव भगवत्स्नेहके रूपमें अंकुरित हो जाता है तब गृहस्थका अपने घर-परिवारमें रहा अनुराग खतम हो जाता है. यह अवस्था बड़ी विलक्षण है. भगवान्में अनुराग बढने लगा तो भगवद्-भक्तिमें अनुपयोगी प्रत्येक वस्तुमें घर-परिवार आदिमें अनुराग घटने लगेगा.

जो अव्यावृत्त होकर अपने घरमें भगवत्सेवार्थ निवास करते हैं उनका अनुराग नष्ट होना आवश्यक नहीं है. क्योंकि उनका घर उनकी अहन्ता-ममताको सन्तुष्ट करनेके

लिए नहीं होता प्रत्युत भगवत्सेवाका स्थल—भगवन्मन्दिर ही होता है. उनका परिवार भी सांसारिक ममताके बन्धनसे बंधा हुआ नहीं होता प्रत्युत भगवत्सेवा करनेवाले विभिन्न सेवकोंका भक्तिके बन्धनमें बंधा हुआ परिवार होता है. अतः बीजभाव प्रेमात्मना अंकुरित होता है पर दूसरी ओर रागविनाश नहीं होता.

(ख) भगवत्कथामार्गसे बीजभावको दृढ़ करनेकी दिशामें आगे बढ़नेवाले यात्रीको द्वितीय क्रोशस्तम्भ भगवदासक्तिका मिलेगा. जैसे ही भगवदासक्ति सिद्ध हुई कि अपने घर-परिवारमें जो अनुराग खण्डित हुआ था वह अब घर-परिवारमें अरुचिका रूप धारण करने लगेगा. भगवदासक्त भक्तको यह प्रतीत होने लगेगा कि मेरे घर और परिवार न केवल मेरी कृष्णभक्तिमें अनुपयोगी हैं बल्कि ये मेरी कृष्णासक्तिमें किसी न किसी तरह बाधा पहुंचानेवाले हैं. वस यही मनोभाव उसमें अपने घर-परिवारके प्रति अरुचि जगा देता है. अभी तक अपने घर और घरमें रहने वाले जिन माता-पिता पति-पत्नी पुत्र-पुत्री या बन्धु-बान्धवों को वह अपना मान बैठा था अब उसे लगेगा कि ये मेरे सगे नहीं है. क्योंकि श्रीकृष्णके प्रति मेरे हृदयकी आसक्तिमें ये अपना हिस्सा बांटना चाहते हैं. प्रत्येक सदस्य अपने परिवारके दूसरे सदस्यकी अपनेमें स्वाभाविकतया आसक्ति चाहता ही है. यही मांग भगवदासक्त भक्तको अरुचिकर लगने लगती है.

परन्तु अपने घरमें कृष्णसेवा करनेवाले भक्तमें भगवदासक्ति तो प्रकट होती है पर घर-परिवारमें अरुचि प्रकट होनेका कोई कारण नहीं होता.

(ग) तीसरा क्रोशस्तम्भ भगवत्कथा-प्रणालीसे भक्तिमार्गपर आगे बढ़नेवाले यात्रीको व्यसनदशाका मिलता है. यहां तक पहुंचनेवाले भक्तकी दशा बड़ी विकल हो जाती है. अब वह भगवान्के बिना एक क्षण भी रह नहीं सकता. भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करता हुआ, भगवान्के गुणोंका स्मरण करता हुआ तथा भगवान्की विविध लीलाओंके मनोरथपर सवार भक्तका मन अब अपने भवितके पथपर लेशमात्र हकावट या व्यवधान सहन नहीं कर पाता. वह असहिष्णु बन जाता है. उसे श्रीकृष्णका व्यसन हो गया समझ लेना चाहिये !

यही वह अवस्था है जहां पहुंचते ही भक्तको यह समझमें आ जाता है कि "गृहस्थितेऽत्कृष्टत्वं न भगवदीयत्वमात्रेण किन्तु भगवता सह स्थित्या भगवत्कार्यार्थं वा अन्यथा न स्यात्तद्व्यम्" अर्थ: स्वयम्का भगवदीय होना घरमें रहनेका स्वस्थ हेतु नहीं है. किन्तु भगवान्के साथ रहना अथवा भगवत्सेवार्थ रहना ही उत्कृष्ट हेतु है, अन्यथा गृहत्याग ही उचित होता है (सुबो. ३।१।२). एकदिन अचानक भक्तके अन्तःकरणमें ऐसा आवाज आनी शुरू होती है— फिर तो स्वयम् उसे भी पता नहीं चलता कि वह कब घरके बाहर हो गया ! इस अन्दरसे उठती आवाजको अनसुनी करनेमें वह समर्थ हो पाये तो समझ लो कि वह अटक गया या भक्तिपथसे कहीं भटक गया है ! अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं— "तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकं त्यागं कृत्वा यतेद् यस्तु

तदर्थार्थकमानसः लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकीं पराम्?"

कथाप्रणालीसे व्यसनभाव सिद्ध होते ही घरसे बाहर निकल जाना श्रेयस्कर होता है. अन्यथा व्यसनदशामें फलित होनेवाला बीजभाव भी सर्वात्मभाव या अलौकिक सामर्थ्य में परिपक्व नहीं हो पायेगा. ऐसे घरमें रहनेसे क्या लाभ जो कृष्णभक्तिका अंग न हो ?

यह गृहपरित्याग कृष्णव्यसनके आवेशमें कृष्णके विरहके कारण होनेवाला परित्याग है. जगतमें पैदा हुई दोषदृष्टिके कारण किया गया अस्वस्थ नीरस-शुष्क त्याग नहीं, किन्तु श्रीकृष्णमें वृद्धिगत हुई प्रेमदृष्टिसे त्रिवश होकर किया गया सरस प्रेमपूर्ण स्वस्थ त्याग है. सर्वनिर्णयमें इस गृहत्यागके बाद एकाकी निस्पृह शान्तभावसे— कहीं रुके बिना— देहपातपर्यन्त निरन्तर तीर्थाटनका क्रम श्रीमहाप्रभुने समझाया है. यात्रा तीर्थोंकी करनी है न तो पुण्यकी खोजमें और न मोक्षकी खोजमें ही किन्तु श्रीकृष्णकी खोजमें— "कृष्ण एव तात्पर्यं न तु तीर्थादी. देहपातनपर्यन्तं च पर्यटनम्!"

प्रेमके इस कठिन त्यागमार्गपर जो चलनेका साहस नहीं जुटा पाते परन्तु घरसे निकल पड़नेकी जिनकी तैयारी हो ऐसे भक्तोंको सहसा दुःसाहस नहीं करनेकी सलाह श्रीमहाप्रभु देते हैं.

इस त्यागमार्गपर चलते हुए जरा चूके कि भक्तिहीन गृहस्थसे भी अधिक नीचे गिर पड़नेकी भीति रहती है. गृहस्थमें तो पुत्रैषणा वित्तैषणा या लोकाँषणा के दोष रह सकते हैं परन्तु त्यागीमें कहीं संसारी जीवोंके संसर्गसे शिष्यैषणा जग गई तो सारा त्याग चौपट हो जायेगा ! पुत्र वित्त और लोक तीनोंकी वासना शिष्यसंग्रहकी वासनामें सूक्ष्म-तया त्रिगुणित हो जाती हैं ! !

घरसे बाहर निकलनेके बाद भी त्यागी भक्तका संसर्ग तो संसारी और भगवद्विमुख लोक के साथ टूट नहीं पायेगा. भगवान्को अनिवेदित अन्न अथवा पञ्चमहायज्ञ न करनेवाले गृहस्थका अन्न खाकर अन्नदोषवश ही अधःपातकी सम्भावना अधिक रहती है. अतः सर्वथा असंग और अपरिग्रह होनेके साथ जब तक व्यसनदशा प्राप्त न हो तब तक त्याग श्रेयस्कर नहीं होता. केवल भगवत्प्राप्तिकी कामना हृदयमें रहे और सारी कामनाये निःशेष हो जायें तभी त्यागमार्गपर आरोहण करना चाहिये.

स्वगृहत्याग और हरिगृहवास

कथाप्रणालीद्वारा प्रेमासक्तिव्यसनकी क्रमिक अवस्थाओंमें जब बीजभाव दृढ़ हो रहा हो और घरमें भगवत्सेवाका निर्वहण शक्य न हो तब ऐसे घरमें रह पाना भगवदीयके लिए अशक्य हो जाता है. पर भक्तिमार्गीय सन्यासग्रहण करनेके लिए भी यदि भक्त अपने-आपको समर्थ न पाता हो तो क्या करना चाहिये ?

श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि ऐसे व्यक्तिको ऐसे हरि-स्थानोंपर जाकर बस जाना चाहिये जहां भगवत्सेवापरायण भक्तगण निवास करते हों (उदाहरणतया ब्रज, चोरासी बंठक, नाथद्वारा, जगदीश, श्रीरंग, पंढरपुर, द्वारका, तिरुपति इत्यादि). इन भगवत्सेवा-परायण भक्तोंकी सेवामें परिचर्या अर्थात् सहायक बननेका अवसर मिले तो सबसे अच्छी बात है अन्यथा इनके सत्संगका लाभ तो लेना ही चाहिये.^१

इन भगवदीयोंके साथ रहनेका तात्पर्य यही है कि जब वे भगवत्सेवामें रत हों तो हम भी उनकी भगवत्सेवामें सहायक बन कर कुछ भगवत्परिचर्या कर पायें. सेवाके बहिरंग साधनोंको सम्पादित करनेमें उन्हें सहयोग दें पायें और इस तरह तनका सेवामें विनियोग हो. यह सिद्धान्तमुक्तावलीमें वर्जित तनुजा-सेवा नहीं है, यह तो एक पुष्टि-मार्गीय-सम्बन्धमें बंधनेवाले एक व्यापक परिवारकी भावना है. एक परिवारमें पिता भगवत्सेवा-अंतरंग-सेवामें परायण हो तो पुत्र भगवत्परिचर्यामें बहिरंगसेवामें परायण होता है. पत्नी सेवा करती ही तो पतिको परिचर्या करनी चाहिये. इसी तरह जन्मना एक परिवारके न भी हों पर पुष्टिमार्गमें जिन दो भक्तोंको एक परिवारकी तरह साथ रहना हो तो एक अपने घरमें विराजमान प्रभुकी अंतरंगसेवामें तत्पर रहें और दूसरा बहिरंगसेवामें. यह अनुज्ञा श्रीमहाप्रभु देना चाहते हैं. साथमें भगवत्सेवा करेंगे तो साथमें भगवत्प्रसाद भी लिया जा सकता है. यह अति उदात्त भावनापर अवलम्बित होता है. सर्वतनिक तनुजासेवा अथवा उदरपूर्तिके हेतुमें नहीं. वह तो सिद्धान्तमुक्तावलीमें ही वर्जित किया जा चुका है.

इसमें एक सावधानी किन्तु अपेक्षित है कि न तो इतने अधिक समीप जाना चाहिये किसीके कि एकको दूसरेके दोष दिखलायी देने लगे और न इतने दूर ही रहना चाहिये कि एक भगवदीय द्वारा की जाती भगवत्सेवा या भगवत्कथा के लाभसे दूसरा भगवदीय सर्वथा वञ्चित ही रह जाये (अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति).

अपने घरको छोड़कर निकल जानेवाला भक्त भी इस तरह भगवत्सेवापरायण भगवदीयोंके साथ उनके हरिगृहमें वास करते हुए यदि भगवत्सेवा और भगवत्कथा को निभा पाता है तो कभी उसका नाश नहीं होगा. यदि एक भगवदीयको दूसरे भगवदीयके साथ इतनी घनिष्ठता न भी पनपे कि दोनों साथ मिलजुलकर भगवत्सेवा कर पायें तो भी दोनों साथ मिलकर भगवत्कथा तो कर सकते ही हैं. इस तरह यदि अपने घरको छोड़ दिया हो पर दुःसंगसे वचना हो तो पुष्टिमार्गीय अन्य भगवदीयका सत्संग प्राप्त

१. मूलतः गोस्वामी धर्माचार्योंकी गृहसेवामें जो मुखिया, भीतरिया, जलघरिया आदि भगवत्सेवाके सहयोगी देखे जाते हैं वे इसी तरहके अपने घरको छोड़कर परिचर्या आनेवाले महाभाग्यवान भगवदीय होते थे- सर्वतनिक कर्मचारी नहीं. अतएव इन्हें भगवत्प्रसादी अन्न-वस्त्र देनेकी प्राचीन परिपाटी थी-वेतन नहीं. कालक्रममें वह विकृत होकर तनुजासेवाक्रममें परिणत हो गई.

करते हुए भगवत्कथाका भी आश्रय जो निभा पाते हैं उनका भक्तिमार्गसे अन्यत्र अधःपात नहीं होगा (सेवायां कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेद् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम).

इस तरह अन्यत्र जा कर सत्संग करनेके बजाय घर छोड़कर कहीं एकान्तमें बसनेमें क्या बुराई है? श्रीमहाप्रभुका उत्तरयही है कि जब घर छोड़नेमें भय नहीं तो भगवदीय के सत्संगमें भय कैसा? और यदि इस तरह सत्संग करते हुए भी मार्गसे भटक जानेका जिसे भय हो उसे एकान्तवाससे अधिक भयभीत होना चाहिये!

कुल मिलाकर बात इतनी ही है कि अदृढ़ बीजभाववाले भक्तके लिए बीजभावको दृढ़ करनेका उत्तम उपाय स्वयम्के घरमें अव्यावृत्त होकर भगवत्सेवा और भगवत्कथा में तत्पर हो जाना है, वह शक्य न हो तो केवल भगवत्कथामें परायण होकर बीजभावको दृढ़ करनेकी चेष्टा करनी चाहिये. जब संसारासक्ति कम हो जाये तब या तो भक्तिमार्गीय सन्यास लेना चाहिये, व्यसनदशा सिद्ध होनेपर, अन्यथा अन्य भगवदीयोंके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें परिवारक बनना चाहिये. वह भी शक्य न हो तो ऐसे सेवा-कथा-परायण भगवदीयोंके सत्संगका लाभ लेनेको न तो उनसे अधिक दूर और न उनके अधिक समीप ही रहनेका प्रयत्न करना चाहिये. एकान्तवास ऐसी स्थितिमें बहुत लाभदायक नहीं होता. पर भगवद्विश्वास दृढ़ रखना चाहिये कि हर कल्पमें भगवान् अपने भक्तकी रक्षा करेंगे ही (हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः)

यह समग्र भगवत्शास्त्रोंका गूढतम रहस्य है. इसे अच्छी तरह पढ़कर समझकर हृदयमें धारण करनेवालेकी भगवान्में रति दृढ़ होती है.

प्रस्तुत भक्तिवर्धिनीका संस्करण वि. सं. १९७७ में प्रकाशित हुए संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद् गोस्वामी श्रीरणछोडलालजी महाराजकी सहायतासे श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा धीरजलाल ब्रजदास सांकलीया ने इसका सम्पादन किया था. इन सभी महानुभावोंका हम हार्दिक कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं.

EDITORS' NOTE.

भक्तिवर्धिनी is the twelfth of the Sixteen Sacred Books of श्रीमद्ब्रह्मसंहिता. It is the foundation of भक्तिमार्ग, and it clearly shows the means by which भक्ति towards God may be increased and strengthened. Nothing is said here about the मुख्य अधिकारी, for his अधिकारबल is strong enough to lead him to final realisation; the मध्यम अधिकारी has to resort to त्याग and श्रवणकीर्तन after his बीजभाव i. e. love towards God, which is produced only by His grace has been strengthened into आसक्ति and व्यसन. Such a व्यसनी, who cannot live without God, should leave worldly surroundings, and realise His separation unobstructed. Such a भक्त is referred to in निरोध-लक्षण and his state is described in महतां कृपया....अध्यासोपि सिध्यति. It is for such a भक्त, that in संन्यासनिर्णय it is said विरहानुभवार्थं तु परित्यागो प्रशस्यते. His साधन is nothing else but भावो भावनया सिद्धः. For the हीन अधिकारी—and almost all the people of the modern times should be included in this category—the method of strengthening the बीजभाव i. e., the divine love which is the gift of His Grace, is as follows:—He must stay in गृहस्थाश्रम, observe वर्णाश्रमधर्म, give up worldly pursuits and worship कृष्ण by पूजा, श्रवण &c. Even if he cannot give up worldly pursuits on account of poverty &c., he must concentrate his mind in हरि, the remover of all pains, and always try for श्रवण &c., till the बीज germinates, and प्रेम, आसक्ति and व्यसन are produced. The test of divine love is संसाररागनाश, the test of divine आसक्ति is गृहाद्वि; all the people in the house look like hindrances-nay, strangers. The test of व्यसन is the inability to live without Divine Presence, तद्विना स्वातुमशक्तिः. Even such a व्यसनी or विरहातुर should not constantly stay at home, because it is a prison, full of many fetters.

The त्याग stated above is not easy; it is full of obstacles due to दुःसंसर्ग and दुष्टात्त. Hence it is better to stay in a हरिस्थान, in the company of भक्तः, who are wholly engrossed in serving the Lord. There also the aspirant should stay near or distant, in such a way that his चित्त is not spoiled. श्रीब्रह्मसंहिता says that he who is wholly engrossed in सेवा or कथा till his life will never perish.

EDITORS' NOTE.

If one is really anxious to go to God, he will learn much from this ग्रन्थ. The fourteen commentaries that we have been able to collect and publish show the various aspects from which we can look at it. Of each of the first eight commentaries we had three to five copies, and from the ninth we had only one copy of each. Of श्रीकल्याणरायजी's commentary we had got a mss. written by his illustrious son श्रीहरिरायजी, of श्रीपुरुषोत्तमजी's we had a mss. corrected by himself in his own handwriting, and of 10, 11, 12 and 13, we had the original mss. written by the authors themselves.

A large collection of these commentaries we got from Pandit Gattulala's Library, and we are grateful to the departed Pandit for his vast and varied collection of mss. Some mss. we were able to get from the Bhandarkar Research Institute, for which we are thankful to Dr. S. K. Belvalkar. Shri Vallabhalalji, son of Shri Devkinandanji also gave us some mss. and we acknowledge our gratefulness to him. Lastly, some important original mss. Mr. Telivala was able to collect while on tour at श्रीनाथद्वार, कोटा, कांकरोली &c.

We note with pleasure the help that we have received in the preparation of press-copies of some of these mss. from Messrs. Gopaldas Jhalani, B. A., of Ujjain, Dhirajlal Kashinath Pandya of Anand, Chandulal C. Shah, Bechardas Maganlal and Purushottamdas Tribhuvandas of Nadiad. This work is printed from the funds supplied by निखलीलाश्रम गोस्वामी श्रीजीवनलालजी of पोरेबंदर and his son श्रीरणछोडलालजी and our sincere thanks are due to them.

With feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love at the Lotus Leet of Ford Shri Krishna.

BOMBAY, }
March 1921. }

MULACHANDRA T. TELIVALA.
DHIRAJLAL V. SANKALIA.